ब्रिटिश भारत में संप्रदायवाद का विकास

Avinash Kumar
Assistant Professor & Head
Department of History
Patna College, Patna-800005
Mobile No. 6202393206
E-mail Id: avinashisavailable@gmail.com

सांप्रदायिकता के विकास के विभिन्न चरण

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सबसे अधिक नुकसान सांप्रदायिकता के विकास से हुआ। ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व कई सदियों तक भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य था। अधिकांश भारतीय मुसलमान इस्लाम धर्म को स्वीकार करने वाले हिंदुओं की संतान हैं। शताब्दियों तक एक-दूसरे के साथ रहने के कारण दोनों संप्रदायों-हिंदुओं और मुसलमानों के रहन-सहन, रीति-रिवाजों में काफी समानता आ गई थी। यद्यपि कभी-कभी हिंदुओं और मुसलमानों में मन-मुटाव भी हो जाता था, फिर भी दोनों ने एक-दूसरे के साथ सहयोग करने का आदर्श स्थापित कर दिये था। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों संप्रदायों के लोगों ने कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष किया था।

1857 का विद्रोह

ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के समय से ही अंग्रेज मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे। अंग्रेजों को लगता था कि ब्रिटिश राज के विस्तार और उसको बनाये रखने के लिए मुसलमानों को दबाये रखना आवश्यक है। कहा जाता है कि 1792 का बंगाल का स्थायी बंदोबस्त मुसलमानों के दमन और हिंदुओं के समर्थन के लिए ही लागू किया गया था, जिसने हिंदू कर-संग्रहकों को भूमि का स्वामी बना दिया था। 1857 के विद्रोह के मुख्य नेता मुसलमान थे और विद्रोही सिपाहियों ने बहादुरशाह जफर को भारत का सम्राट घोषित किया था। अंग्रेजों को लगता था कि 1857 के विद्रोह के द्वारा मुसलमान भारत में अपनी सत्ता पुनः स्थापित करना चाहते थे। वास्तव में अंग्रेजों ने बहुत पहले ही यह अनुभव कर लिया था कि भारत के मुट्ठीभर अंग्रेजों को बचाने और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करने का एक मात्र उपाय यही है कि भारत के विभिन्न संप्रदायों ओर समूहों को एक-दूसरे से अलग कर दिया जाये। 1857 के विद्रोह को कुचलने के बाद ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों से खासतौर से बदला चुकाया।

1857 के बाद ब्रिटिश सरकार की मुस्लिम-विरोधी नीति ने मुसलमानों के आर्थिक और सांस्कृतिक अधःपतन का पथ प्रशस्त किया। यद्यपि 1858 की घोषणा में कहा गया था कि सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के संबंध में सरकार, जाति, धर्म आदि का भेदभाव नही करेगी, किंतु सरकार ने मुसलमानों को राजकीय पदों से वंचित करके और उन्हें शिक्षा तथा आर्थिक क्षेत्रों में लताड़कर बुरी तरह दंडित किया। ऊँचे पद यूरोपियनों को प्रदान किये गये और छोटे पद हिंदुओं को, किंतु मुसलमानों को सरकारी पदों से अलग रखा गया। 1851 और 1862 के बीच मध्य हाईकोर्ट के 240 वकीलों में केवल 01 मुसलमान था। आंकड़े बताते हैं कि 1871 में बंगाल के 2141 राजपत्रित अधिकारियों में 1338 यूरोपियन थे, 711 हिंदू और केवल 92 मुसलमान थे।

सांप्रदायिक राजनीति का आरंभ

भारत में मुस्लिम सांप्रदायिकता का आरंभ 1870 से माना जाता है जब ब्रिटिश नीति में परिवर्तन हुआ और आंग्ल-मुस्लिम मित्रता की नीव पड़ी। विलियम हंटर ने 1871 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि इंडियन मुसलमान' में ऐंग्लो-

मुस्लिम मित्रता की आवश्यकता पर बल दिया। मुसलमानों की आर्थिक स्थिति के बारे में 1871 में सर विलियम हंटर ने लिखा था कि आर्थिक दृष्टि से भारतीय मुसलमान ब्रिटिश शासन में एक विनष्ट जाति है और उनको साथ रखना आसान है। विलियम हंटर का कहना था कि मुसलमानों के प्रति नीति बदलकर अब उन्हें शांत और संतुष्ट किया जाये, जिससे वे ब्रिटिश सत्ता के दृढ़-स्तंभ बन सकें। राष्ट्रवादी आंदोलन की स्वशासन की मांग को अवरूद्ध करने और कांग्रेस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 'बांटों और राज करो' की नीति के अंतर्गत मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया। पहले अंग्रेजों ने बंगाली वर्चस्व का नाम लेकर प्रांतवाद को हवा दिया, फिर जातिप्रथा का प्रयोग करके गैर-ब्राह्मण जातियों को ब्राह्मणों के विरूद्ध और निचली जातियों को ऊँची जातियों के खिलाफ भड़काया। इसके बाद अंग्रेजों ने संयुक्त प्रांत और बिहार में उर्दू- हिंदी के विवाद को खुलकर प्रोत्साहन दिया।

सर सैयद अहमद खाँ की भूमिका (The Role of Sir Syed Ahmed Khan)

धार्मिक अलगाववाद के विकास में सर सैयद अहमद खाँ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आरंभ में सर सैयद अहमद खाँ का दृष्टिकोण बुद्धिमत्तापूर्ण, दूरदर्शी एवं सुधारवादी था, किंतु जीवन के अंतिम दिनों में उनकी राष्ट्रीयता सांप्रदायिकता में परिवर्तित हो गई। सैयद अहमद खाँ का विचार था कि मुसलमानों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए अलीगढ़ कालेज की स्थापना की जिससे मुसलमान उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। 1880 के दशक में सैयद अहमद खाँ ने औपनिवेशिक शासन का समर्थन करना प्रारंभ किया और सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के साथ खास व्यवहार करने की माँग उठाई। राष्ट्रीय आंदोलन और कांग्रेस से मुसलमानों को अलग रखने के लिए सैयद अहमद खाँ ने बनारस के राजा शिवप्रसाद के साथ ब्रिटिश राज्य के प्रति वफादारी का आंदोलन चलाने का निश्चय किया।

1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद अहमद खाँ ने कांग्रेस का विरोध करने के लिए मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन (1887), इंडियन पेट्रियाटिक एसोसिएशन और मोहम्मडन-ऐंग्लो ओरियंटल डिफेंस ऐसोसिएशन (1893) जैसी संस्थाओं की स्थापना की। सैयद अहमद खाँ ने घोषणा की कि अगर शिक्षित मुसलमान ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार रहें, तो सरकार नौकरियों तथा दूसरी विशेष कृपाओं के रूप में उन्हें इसका समुचित पुरस्कार देगी। सर सैयद अहमद खां के डिफेंस एसोसिएशन ने माँग की कि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में मुसलमानों को समुचित प्रतिनिधित्व दिये जायें एवं सांप्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन पद्धति लागू की जाये। कालांतर में अलगढ़ कालेज के प्रिंसिपल (एम.ए.ओ.) बैक के प्रभाव में आकर सैयद अहमद खाँ तो यहाँ तक कहने लगे कि हिंदू बहुमत में हैं, इसलिए ब्रिटिश शासन के निर्बल होने या समाप्त हो जाने पर मुसलमानों पर हिंदुओं का दबदबा कायम हो जायेगा। कांग्रेस के बारे में बैक ने मुसलमानों को समझाया था कि 'कांग्रेस का उददेश्य राजनीतिक नियंत्रण अंग्रेजों से हिंदुओं को हस्तांतरित करना है।' यद्यपि बैक और सैयद अहमद खाँ के प्रयास से मुसलमान बहुत हद राष्ट्रीय आंदोलन से कटने लगे थे, फिर भी, 1899 के लखनऊ अधिवेशन में मुसलमानों की सख्ंया लगभग 42 प्रतिशत थी।

हिंदूवादी सांप्रदायिकता का विकास

1870 के बाद से ही हिंदू जमीदार, सूदखोर और मध्यवर्गीय पेशेवर लोग मुस्लिम-विरोधी भावनाएं भड़काना शुरू कर दिये थे। 1870 के दशक में आर्यसमाजी शुद्धि आंदोलनों ने हिंदू संप्रदायवाद की नीव रख दी थी। संयुक्त प्रांत और बिहार में हिंदी-उर्दू के प्रश्न को सांप्रदायिक रंग दिया गया और यह प्रचार किया गया कि उर्दू मुसलमानों की और हिंदी हिंदुओं की भाषा है। 1890 के बाद आर्य समाज द्वारा पूरे भारत में गो-हत्या-विरोधी प्रचार अभियान चलाया गया जो अंग्रेजों के नही, केवल मुसलमानों के खिलाफ था। मुसलमानों की देखा-देखी हिंदू संप्रदायवादियों ने भी विधायिकाओं और सरकारी नौकरियों में हिंदू सीटों की माँग की।

बंग-भंग विरोधी आंदोलन

राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने के लिए लार्ड कर्जन ने 1905 में 'बाँटो और राज्य करो' की नीति के अंतर्गत बंगाल का विभाजन कर दिया। पूर्वी बंगाल में, जहां हिंदू संपन्न और शिक्षित थे और मुस्लिम मुख्यतः निर्धन किसान, कर्जन की कुटिल नीतियों के कारण सांप्रदायिकता को पनपने का अवसर मिला। पूर्वी बंगाल का दौरा करके कर्जन ने मुसलमानों को विश्वास दिलाया कि ब्रिटिश सरकार उनके कल्याण के लिए बंगाल का विभाजन कर रही है। वास्तव में कर्जन का उद्देश्य हिंदुओं-मुसलमानों को अलग करके बंगाली राष्ट्रवाद को कमजोर करना और एक पृथक् मुस्लिम प्रांत बनाकर मुसलमानों को राजभक्ति का पुरसकार देना था।

मुस्लिम लीग और सांप्रदायिकता (Muslim League and Communalism)

बंग-भंग विरोधी आंदोलन की जन-राजनीति से भयभीत ब्रिटिश सरकार ने अभिजातवर्गीय मुसलमानों को एक राजनीतिक पार्टी में संगठित करने के लिए प्रेरित किया। वायसराय लार्ड मिंटों ने गुप्त रूप् से अलीगढ़ कालेज के प्राचार्य आर्चीबाल्ड को एक पत्र लिखा जिसमें मुसलमानों के एक शिष्टमंडल भेजने के लिए कहा गया था जो अपने लिए पृथक् रूपसे अधिकारों की मांग करे। आगा खां के नेतृत्व में 35 मुसलमानों के प्रतिनिधिमंडल ने 1 अक्टूबर 1906 में वायसराय लार्ड मिंटों से शिमला में भेंट की। शिमला में मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल ने वायसराय से विधानसभाओं, स्थानीय संस्थाओं और सरकारी नौकरियों में विशेष प्रतिनिधित्व देने की मांग की तथा और अंग्रेजी शासन के प्रति मुसलमानों की वफादारी का विश्वास दिलाया। वायसराय ने शिष्टमंडल को आश्वासन दिया कि मुसलमानों के पृथक् निर्वाचनों तथा अधिक प्रतिनिधित्व की मांगों पर अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया जायेगा क्योंकि ये मांगें उचित हैं। वायसराय के प्रोत्साहन और अलीगढ़ कालेज के प्राचार्य आर्चीबाल्ड की शह पर ढाका के नवाब सलीमुल्ला खां ने 9 नवंबर 1906 को एक प्रपत्र जारी किया जिसमें उन्होंने आल इंडिया मुस्लिम कॉन्फ्रेंस' नामक एक मुस्लिम संगठन बनाने का सुझाव रखा था। ढाका में 30 दिसंबर, 1906 नवाब मोहसिन-उल-मुल्क तथा नवाब बकार-उल-मुल्क ने भारत के प्रमुख मुस्लिम नेताओं की बैठक में एक सरकारपरस्त रूढ़िवादी राजनीतिक संगठन के रूप में 'आल इंडिया मुस्लिम लीग की स्थापना की। मुस्लिम लीग की स्थापना का उद्देश्य मुस्लिम शिक्षित वर्ग को कांग्रेस से विमुख करना और राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करना था। मुस्लिम लीग ने न केवल बंगाल के विभाजन का समर्थन किया, बल्कि मुसलमानों के लिए अलग मतदाता मंडलों की माँग भी की।

मुस्लिम लीग की अभिजातवर्गीय नेतृत्व की सरकारपरस्त, हिंदू-विरोधी नीतियों से युवा राष्ट्रवादी मुसलमानों को बहुत दुःख हुआ। नवाब सादिक अली खाँ ने कहा कि 'मुसलमानों को यह शिक्षा देना कि उनके राजनीतिक हित हिंदुओं से पृथक् हैं, अच्छा नहीं है।'

पृथक् निर्वाचन-पद्धति : स्थायी दरार (Separate Electoral System: Permanent Rift)

हिंदुओं और मुसलमानों के मध्य स्थायी दरार पैदा किया 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार ने। लीग की मांग के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने 1909 के सुधार अधिनियम में मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचक-मंडल और प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की। पृथक् निर्वाचक-मंडल के अनुसार मुसलमान मतदाताओं के लिए अलग चुनाव क्षेत्र बनाये गये, जहाँ सिर्फ मुसलमान उम्मीदवार ही खड़े हो सकते थे और मतदान का अधिकार भी केवल मुसलमानों को था। भारत सचिव लार्ड मार्ले ने वायसरय मिंटो को लिखा था कि 'पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाकर हम ऐसे घातक विष के बीज बो रहे हैं, जिनकी फसल बड़ी कड़वी होगी।

राष्ट्रवादी मुसलमानों की प्रतिक्रिया (Nationalist Muslims Reaction)

मुहम्मद अली जिन्ना ने 1910 के इलाहाबाद कांग्रेस अधिवेशन में पृथक् प्रतिनिधित्व के विरूद्ध प्रस्ताव पेश किया और इसे भारत के 'राजनीति रूपी शरीर में बुरी नीयत से प्रविष्ट किया गया विषैला तत्त्व' बताया। इस समय राष्ट्रवादी भावनाएं पारंपरिक मुसलमान उलेमाओं के एक वर्ग में भी उभर रही थी, जिसका नेतृत्व देवबंद स्कूल करता था। मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमल खाँ, हसन इमाम, मौलाना जफर अली और मजहरूल-हक के नेतृत्व में प्रखर राष्ट्रवादी अहरार आंदोलन किया। मौलाना अबुलकलाम आजाद 'अल-हिलाल' (1912) के माध्यम से बुद्धिवादी और राष्ट्रीय विचारों का प्रचार कर रहे थे।

लखनऊ समझौता

बीसवी सदी के दूसरे दशक में मुस्लिम लीग, कांग्रेस की नीतियों के काफी निकट पहुँच चुकी थी और मौलाना आजाद तथा मुहम्मद अली जिन्ना जैसे युवा राष्ट्रवादी सरकारपरस्तों पर भारी पड़ने लगे थे। 1912 में आगा खां के सथान पर मुहम्मद अली जिन्ना मुस्लिम लीग के अध्यक्ष बने। 1916 के अंत में तिलक और जिन्ना के प्रयास से लीग और कांग्रेस के बीच 'लखनऊ समझौता' हुआ। लीग ने स्वशासन की मांग का समर्थन किया और कांग्रेस ने पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। लखनऊ समझौता प्रगतिशील जरूर था, किंतु कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग की सांप्रदायिक राजनीति को स्वीकार करना देश के लिए घातक साबित हुआ।

हिंदू-मुस्लिम एकता (Hindu-Muslim Unity)

रौलट ऐक्ट विरोधी आंदोलन तथा खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन के दौरान हिंदू-मुस्लिम एकता बनी रही। आर्यसमाजी नेता स्वामी सहजानंद दिल्ली की जामा मस्जिद के मंच से भाषण दिया। डा. सैफुद्दीन किचलू को अमृतसर के स्वर्णमंदिर की चाभियां दी गईं। जमायते-उल-उलेमा-ए-हिंद, कश्मीर राज्य तथा खुदाई खिदमतगार ने कांग्रेस के साथ मिलकर सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लिया। जमायतुल-उल्मा-ए-हिंद के दिसंबर 1921 के कार्यक्रम में स्वतंत्र भारत की परिकल्पना विभिन्न धार्मिक समुदायों के संघ के रूप में की गई।

यद्यपि खिलाफत आंदोलन का स्वरूप धार्मिक था, लेकिन इस आंदोलन ने मुस्लिम जनता और मध्य वर्ग में साम्राज्यवाद-विरोधी भावना को जगाया। किंतु दुर्भाग्य से राष्ट्रवादी नेतृत्व मुसलमानों की धार्मिक-राजनीतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना में नही बदल सका और यह हिंदू-मुस्लिम एकता अस्थायी सिद्ध हुई।

संप्रदायवाद का उभार और हिंदू-मुस्लिम दंगे

1920 के दशक में संप्रदायवाद की वृद्धि का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण 1919 के बाद की राजनीतिक संरचना मंन निहित था। मांटफार्ड सुधारों ने मताधिकार को विस्तृत किया था, किंतु अलग निर्वाचकमंडल न केवल बरकरार रखे गये थे, बल्कि उनमें वृद्धि भी की थी। स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने गुटपरस्त नारों के माध्यम से अपने लिए समर्थन बढ़ाये और अपने धर्म, क्षेत्र या जाति से संबद्ध समूहों को लाभ पहुंचाने का प्रयास किये। दूसरे 1920 के दशक में शिक्षा का तो पर्याप्त प्रचार-प्रसार हो चुका था, किंतु उसी अनुपात में नौकरियों के अवसरों में वृद्धि नहीं हुई थी। फरवरी 1922 में चौरीचौरा कांड के बाद असहयोग आंदोलन के स्थगन के साथ ही अवसरवादी हिंदू-मुस्लिम गठजोड़ भी समाप्त हो गया, और सांप्रदायिकता को अपना सर उठाने का अवसर मिला।

1922-23 के मध्य मुस्लिम लीग एव हिंदू महासभा जैसे सांप्रदायिक संगठन पुनः सक्रिय होकर सांप्रदायिक राजनीति में कूद पड़े। हिंदू महासभा की स्थापना 1915 में पं. मदनमोहन मालवीय एवं कुछ पंजाबी नेताओं ने हरिद्वार में कुभ मेले में की थी। 1922-23 में हिंदू महासभा का बड़े पैमाने पर पुनरुत्थान हुआ। हिंदू महासभा के अगस्त 1923 के

बनारस अधिवेशन में शुद्धि का कार्यक्रम सम्मिलित था और हिंदू आत्मरक्षा जत्थों के निर्माण का आह्वान किया गया था। आर्यसमाजियों ने मोपलों द्वारा बलपूर्वक हिंदुओं को मुसलमान बनाने के बाद शुद्धि आंदोलन शुरू किया था। स्वामी श्रद्धानंद के नेतृत्व में आर्यसमाज ने 1923 के बाद पश्चिमी संयुक्त प्रांत में मलकान राजपूतों, गूजरों और बनियों को पुनः हिंदू बनाने के लिए शुद्धि आंदोलन को आरंभ किया, जो मुसलमान बना लिय गये थे। मुसलमानों ने शुद्धि और संगठन के के जवाब में 'तबलीग' और 'तंजीम' आंदोलन शुरू किये। सितंबर 1924 में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत (कोहट) में एक हिंदू-विरोधी दंगा हुआ, जिसमें 155 लोग मारे गये। कोहट दंगों के बाद सितंबर 1924 में दिल्ली में मुहम्मद अली के घर रहकर गांधीजी के 21 दिन का उपवास किया।

गांधीजी ने 26 सितंबर से 2 अक्टूबर 1924 तक नेताओं की 'एकता सभा' की और एक 'केंद्रर्रीय राष्ट्रीय पंचायत' का गठन किया। 29 मई 1924 को यंग इंडिया' में गांधी ने एक बड़ी प्रासंगिक बात कही थी- "गाय की जान बचाने के लिए मनुष्यों की जान लेना बर्बर अपराध है।" 1924 के लाहौर अधिवेशन में जिन्ना की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग ने ऐसे संघ की मांग की जिसमें मुसलमान बहुल क्षेत्रों को "हिंदुओं के प्रभुत्व" से बचाने के लिए पूर्ण प्रांतीय स्वायत्तता प्राप्त हो। जिन्ना की यह मांग अलग निर्वाचकमंडलों के अतिरिक्त थी और 1940 में पाकिस्तान की अलग मांग उठाने तक मुस्लिम लीग का यही मूलभूत नारा रहा। 1925 में नागपुर में तिलक के एक पुराने सहयोगी मुंजे के अनुयायी के.बी. हेडगेवार ने मुस्लिम लीग के समानांतर अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक दल जैसे संगठनों का विस्तार करना शुरू कर दिया।

1925 के बाद सांप्रदायिक वातावरण के दबाव में स्वराज्यवादी दो गुटों में बंट गए- मदनमोहन मालवीय ने मोतीलाल नेहरू के विरुद्ध अपनी कटु प्रतिद्वंद्विता में लाला लाजपत राय और एन.सी. केलकर के साथ मिलकर स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी बनाई, जो हिंदू महासभा का ही मोरचा था। बंगाल में 1926 में चितरंजन दास का हिंदू-मुस्लिम पैक्ट भी रद्द कर दिया गया। आरंभ में कांग्रेस के साथ सहयोग करनेवाले अलीबंधुओं ने कांग्रेस पर आरोप लगाया कि वह हिंदू सरकार स्थापित करना चाहती है। 1926 में कलकत्ता, ढाका, पटना और दिल्ली में दंगे हुए जिसमें सैकड़ों लोग मारे गये और 1926 में स्वामी श्रद्धानंद की भी हत्या हो गई। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार 1922 से 1927 के बीच लगभग 112 बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए। इस दौर के सांप्रदायिक दंगो में बार-बार दोहराये जानेवाला एक ही मुद्दा था- मुसलमान चाहते थे कि मस्जिदों के आगे बाजा न बजाया जाये और हिंदू चाहते थे कि गोकशी बंद की जाये। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने समझौता-वार्ता के जरिये सांप्रदायिक राजनीति की शक्तियों से निपटने का प्रयास किया।

साइमन कमीशन और सांप्रदायिकता (Simon Commission and Communalism)

साइमन कमीशन के बहिष्कार के अवसर पर भारत में एक बार पुनः हिंदू-मुस्लिम एकता के आसार नजर आये और कई सर्वदलीय राष्ट्रीय सम्मेलनों के बाद देश का एक सर्वसम्मत संविधान बनाया गया। दिसंबर, 1927 में दिल्ली में मुस्लिम नेताओं ने जिन्ना के नेतृत्व में एक चार सूत्रीय माँगपत्र 'दिल्ली प्रस्ताव' पेश किया। मुस्लिम नेताओं ने 'दिल्ली प्रस्ताव' में माँग की कि सिंध को एक अलग राज्य बनाया जाए, केंद्रीय विधायिका में मुसलमानों को 33 प्रतिशत से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाये, पंजाब तथा बंगाल में प्रतिनिधित्व का अनुपात आबादी के अनुसार तय किया जाये और साथ ही अन्य प्रांतों में मुसलमानों का वर्तमान आरक्षण बना रहे। किंतु कांग्रेस ने जिन्ना के चार सूत्रीय प्रस्ताव को मानने से इनकार कर दिया। नेहरू रिपोर्ट दिसंबर, 1928 में कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में अनुमोदन के लिए प्रस्तुत की गई। यद्यपि नेहरू रिपोर्ट को सभी दलों की समिति ने तैयार किया था, किंतु मुस्लिम संप्रदायवादियों, हिंदू महासभा और सिख लीग ने भी इस रिपोर्ट का तीखा विरोध किया।

जिन्ना जैसे राष्ट्रवादी मुसलमानों ने नेहरू रिपोर्ट को हिंदू हितों का दस्तावेज' बताते हुए "हिंदुओं-मुस्लिमों के अलग-अलग रास्ते" का नारा दिया। 1928 में शौकतअली ने बड़ी ही निराशा के साथ कहा था कि 'कांग्रेस हिंदू महासभा की एक दुमछल्ला बन चुकी है।'

जिन्ना का चौदह सूत्रीय माँग-पत्र (Fourteen Point Demand Letter of Jinnah) मार्च 1929 में जिन्ना ने मुसलमानों के विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए एक चौदह सूत्रीय माँग-पत्र तैयार किया, जिसे सर्वदलीय बैठक ने नकार दिया। अब मुस्लिम लीग और आक्रामक होकर कांग्रेस पर मुस्लिम-विरोधी होने का आरोप लगाने लगी और मुस्लिमों को धार्मिक आधार पर लामलबंद करने लगी। इस प्रकार संप्रदायवादियों से बातचीत या समझौता कर सांप्रदायिक समस्या का हल निकालने की रणनीति पूर्णतः विफल हो गई। फिर भी, 1920 के दशक में सांप्रदायिक दलों और समूहों के काफी सक्रिय रहने के बावजूद सांप्रदायिकता भारतीय समाज में व्यापक रूप से नही फैली थी। सांप्रदायिक मुख्यतः झगड़े शहरों तक सीमित थे और सांप्रदायिक नेताओं को कोई व्यापक जन-समर्थन नही मिल रहा था।

1930 के दशक में सांप्रदायिकता (Communalism in the 1930s)

1930 के दशक के आरंभ में लंदन में आयोजित तीन गोलमेज सम्मेलनों से संप्रदायवादियों को मैदान में आने का अवसर मिला। संप्रदायवादियों ने ब्रिटिश शासक वर्ग के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी तत्वों से हाथ मिलाया। संप्रदायवादियों ने इस बात पर जोर दिया कि हिंदुओं और मुसलमानों के हित एक-दूसरे के विरोधी है। सांप्रदायिक निर्णय और 1935 के अधिनियम में मुस्लिम लीग को वह सगब कुछ मिल गया, जिसकी वह मांग करती आ रही थी।

सांप्रदायिक संगठनों के साझे तत्व

हिंदू और मुस्लिम दोनों सांप्रदायिकता में कुछ तत्व सांझे थे, जैसे- एक तो दोनों सांप्रदायिक समूहों को समाज के पतनकारी तथा संकीर्णवादी वर्गों का समर्थन प्राप्त था, जैसे जमीदार, सामंत अथवा राजे-महाराजे। दूसरे, दोनों सांप्रदायिक समूहों का संघर्ष ब्रिटिश शासन के विरुद्ध न होकर आपस में था और उन्हें ब्रिटिश सरकार से अप्रत्यक्ष समर्थन मिल रहा था। तीसरे, दोनों सांप्रदायिक समूहों ने कांग्रेस का, जो एक उदारवादी धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक राज्य की धारणा का प्रतिनिधित्व कर रही थी, का विरोध किया। चौथे, दोनों सांप्रदायिक समूहों का विचार था कि हिंदू तथा मुस्लिम पृथक् राष्ट्रीयताएं हैं।

मुस्लिम राजनीति में आरंभ से ही स्तर-संबंधी भेद और वैचारिक विवाद रहे हैं। 1930 के दशक के अंत तक भी मुसलमानों की कोई एक निश्चित राजनीतिक संस्था नही थी। इसके बावजूद अंग्रेजी राज्य के सहभागी के रूप में 1920 और 1930 के दशकों के दौरान राजनीतिक दृष्टि से मुसलमानों को बहुत कुछ मिला था। अलग निर्वाचनमंडल का सिद्धांत अब भारतीय संविधान में पक्के रूप में शामिल हो चुका था। कांग्रेस कभी भी पूरे मन से पृथक निर्वाचन की व्यवस्था को स्वीकार नही कर सकी और वह लगातार पृथक निर्वाचन की पद्धति के प्रति नकारात्मक प्रचार करती रही। कांग्रेस की नीतियों से अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों में संदेह का वातावरण पैदा हुआ और वे अपने को कांग्रेस के राष्ट्रीय कार्यक्रमों से पृथक करने लगे। इसी अलगाव और अविश्वास के राजनीतिक संदर्भ में धीरे-धीरे मुस्लिम राष्ट्रीयता का विचार पनपा।

मुस्लिम राष्ट्रीयता का विकास (Development of Muslim Nationality)

प्रसिद्ध शायर और राश्ट्रवादी कवि इकबाल जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान ने 1930 में इलाहाबाद मुस्लिम लीग के अध्यक्ष के रूप में भारत के अंदर चार मुस्लिम-बहुल प्रांतों (पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, सिंध और बलूचिस्तान) को मिलाकर एक 'इस्लामिक राज' के गठन का प्रस्ताव रखा था। अपनी कविताओं और दार्शनिक लेखों के द्वारा इकबाल ने

युवा मुस्लिम वर्ग को 'इस्लामिक राज' की स्थापना की ओर आकर्षित करना प्रारंभ कर दिया था। कैंब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र चौधरी रहमत अली ने 1934 में पाकिस्तान आंदोलन की नीव रखी और भारत के चार मुस्लिम प्रांतों-पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, सिंध और बलूचिस्तान और कश्मीर को मिलाकर अस्पष्ट रूप से पाकिस्तान बनाने की बात की। पाकिस्तान (PAKSTAN) शब्द में 'पी' पंजाब के लिए, 'ए' अफगान क्षेत्र के लिए 'के' कश्मीर के लिए, 'एस' सिंध के लिए और 'तान' बलूचिस्तान के लिए प्रयुक्त किया गया था। प्रारंभ में जिन्ना और भारत के अन्य राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं ने चौधरी रहमतअली के पाकिस्तान के विचार का मजाक उड़ाया, किंतु बाद में यही शब्द मुस्लिम राष्ट्रीयता आधार बन गया। धार्मिक राष्ट्रवाद के मौलिक तत्व को जीवित रखने और संचालित करने में साम्राज्यवादी अंग्रेजों तथा देसी रजवाड़ों, सामंतों और उच्च वर्गों के गठजोड़ ने मुख्य भूमिका निभाई क्योंकि राष्ट्रवाद के विकास के कारण उनका भी अस्तित्व खतरे में था।

1937 के चुनाव और सांप्रदायिकता

बीसवी सदी के तीसरे दशक के मध्य तक मुस्लिम लीग तथा हिंदू महासभा जैसे सांप्रदायिक संगठनों का जनाधार अत्यंत सीमित रहा था। 1937 के चुनाव में मुस्लिम लीग 483 पृथक निर्वाचन क्षेत्रों में से केवल 109 पर विजयी रही और लीग को कुल मुस्लिम वोटों का केवल 4.6 प्रतिशत मिला। इसी प्रकार हिंदू महासभा की भी मिट्टी पलीद हो गई। पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में लीग को एक भी स्थान नहीं मिला और वह पंजाब के 84 आरक्षित चुनाव क्षेत्रों में से केवल 2 और सिंध के 33 में से केवल 3 स्थान पर ही जीत सकी। मुस्लिम चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस का प्रदर्शन भी बहुत मामूली रहा। कांग्रेस 482 अरक्षित सीटों में से केवल 58 पर लड़ी थी और मात्र 26 सीटें जीत सकी थी। मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से प्रांतीय मंत्रिमंडलों में सीटों के निर्धारण के बारे में समझौता करने का प्रयास किया।

कांग्रेस ने बड़ी बेरहमी से मुस्लिम लीग के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और जिन्ना को सलाह दिया कि वे सत्ता में भागीदारी चाहने के पहले लीग का कांग्रेस में विलय कर दें। इस प्रकार कांग्रेस अपने मामूली प्रदर्शन के बावजूद राजनीतिक अहंकार से भर गई, जबकि उसे मुस्लिम क्षेत्रों में खड़े होने के लिए प्रत्याशी तक नहीं मिले थे। दरअसल कांग्रेस अपने को पूरे देश का प्रतिनिधि मानती थी और मुस्लिम लीग उच्च मध्यम वर्ग के लोगों का केवल एक गुट मानती था। प्रांतीय चुनावों बुरी तरह पराजित होने और कांग्रेस द्वारा दुत्कार दिये जाने के बाद जिन्ना ने यह प्रचार करने लगे कि कांग्रेस ब्रिटिश हुकूमत से मिलकर 'हिंदूराज' कायम करना चाहती है और भारत से इस्लाम का नामोनिशान मिटा देना चाहती है। संप्रदायवादियों को लगा कि यदि वे अपने अस्तित्व को बचाने और राजनीतिक स्तर पर जिंदा रहने के लिए गरमवादी, जनाधारित राजनीति का सहारा नहीं लेंगे, तो धीरे-धीरे खत्म हो जायेंगे।

उग्रवादी सांप्रदायिकता का विकास

1937 के बाद घृणा, भय और अतार्किकता की राजनीति के कारण उग्रवादी सांप्रदायिकता का विकास हुआ और जन-साधारण को तेजी से अपनी गिरफ्त में लेने लगा। जिन्ना ने मुस्लिम लीग को मजबूत करने के लिए विभिन्न असंतुष्ट मुस्लिम दलों और संगठनों को लीग में मिलाना आरंभ किया। फलतः 1927 में जिस मुस्लिम लीग की सदस्य संख्या 1330 थी, 1939 में लाखों तक पहुँच गई। अब जिन्ना कांग्रेस को 'हिंदुओं की पार्टी' कहने लगे और गाँधी के 'रामराज' की 'हिंदूराज' से तुलना करने लगे।

उग्रवादी सांप्रदायिकता के विकास के कारण

इस उग्रवादी सांप्रदायिकता के विकास के कई कारण थे। 1937 के चुनावों में कांग्रेस प्रमुख राजनीतिक शक्ति बनकर उभरी थी। जमींदारों और सूदखोरों की पार्टियों का सफाया हो गया था। राष्ट्रीय आंदोलन की आर्थिक-राजनीतिक नीतियों के क्रांतिकारी रूपांतरण के कारण युवा मजदूर वर्ग और किसान तेजी से वामपंथ की ओर आकर्षित हो रहे थे।

कांग्रेस के बढ़ते जनाधार से चिंतित जमीदार और भूस्वामी अपने-अपने स्वार्थो की रक्षा के लिए सांप्रदायिक पार्टियों का दामन थामने लगे। पश्चिम पंजाब के बड़े जमीदार और मुस्लिम नौकरशाह यूनियनिस्ट पार्टी को छोड़कर मुस्लिम लीग के इर्द-गिर्द इकट्ठा होने लगे और बंगाल के मुस्लिम जमीदारों और जोतदारों (भूस्वामियों) ने भी यही किया। उत्तर और पश्चिम भारत के हिंदू जमीदारों, भूस्वामियों, व्यापारियों और साहूकारों ने हिंदू सांप्रदायिक दलों और समूहों का दामन पकड़ना शुरू कर दिया। सांप्रदायिकता के उग्र होने का एक कारण यह भी था कि 1932 के सांप्रदायिक निर्णय और फिर 1935 के सरकार अधिनियम द्वारा मुस्लिम लीग की अधिकांश माँगें मान ली गई थी। अब संप्रदायवादियों को अपना अस्तित्व बचाने, राजनीतिक स्तर पर जिंदा रहने और आगे बढ़ने के लिए नई जमीन और नये कार्यक्रम की तलाश थी।

कांग्रेस-विरोधी प्रचार (Anti-Congress Campaign)

प्रांतों में कांग्रेस के शासन के दौरान जिन्ना ने कांग्रेस के विरुद्ध लगातार प्रचार किया। जिन्ना ने कांग्रेस पर आरोप लगाना शुरू किया कि कांग्रेस मुसलमानों के प्रति निर्दयी, क्रूर और शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण अपना रही है और सांप्रदायिक दंगे रोकने में असफल रही है। जिन्ना ने ब्रिटिश सरकार पर भी मुस्लिमों के शोषण की प्रक्रिया में कांग्रेस के साथ मिले होने का आरोप लगाया। सभी प्रांतों में रहनेवाले मुसलमानों को जिन्ना ने विश्वास दिलाया कि मुस्लिम समुदाय का भविष्य केवल लीग के हाथों में ही सुरक्षित है। अब सांप्रदायिकता का स्वरूप गरम हो गया तथा उसके चरित्र में भय, घृणा, जुल्म, दमन एवं हिंसा जैसे शब्दों का समावेश हो गया।

द्वि-राष्ट्र का सिद्धांत (Two-Nation Theory)

1937 में लीग ने जिस प्रकार घृणा और और उत्तेजना का प्रसार किया, उससे हिंदू सांप्रदायिक संगठनों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। हिंदू महासभा के अगुआ वी.डी. सावरकर ने 'हिंदू राष्ट्र' का नारा किया और संपूर्ण हिंदू जाति के सैन्यीकरण का प्रयास किया। सावरकर हिंदुओं को समझाने लगे कि मुसलमान हिंदुओं को पदमर्दित करना चाहते हैं, उन्हें उनके ही देश मे गुलाम बनाना चाहते हैं। 1939 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघचालक एम.एस. गोलवलकर ने मुसलमानों तथा अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को चेतावनी दी कि हिंदुस्तान के गैर-हिंदुओं को या तो हिंदू संस्कृति और भाषा अपनानी होगी, या फिर हिंदू राष्ट्र के अधीन होकर रहना होगा। हिंदू संप्रदायवादियों ने प्रचारित किया कि हिंदू एक अलग राष्ट्र है और भारत हिंदुओं का देश है। इस प्रकार हिंदू संप्रदायवादियों ने भी द्वि-राष्ट्र के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस के खिलाफ हिंदू और मुस्लिम संप्रदायवादियों ने एक-दूसरे से हाथ मिलाने में भी कोई संकोच नही किया। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध और बंगाल में हिंदू संप्रदायवादियों ने कांग्रेस के विरोध में मुस्लिम लीग तथा दूसरे सांप्रदायिक संगठनों का मंत्रिमंडल बनवाने में मदद की। हिंदू और मुस्लिम राष्ट्रवाद की बात करने वाले किसी सांप्रदायिक संगठन या दल ने विदेशी शासन-विरोधी संघर्ष में कभी कोई सक्रिय भाग नही लिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध और सांप्रदायिकता (World War II and Communalism)

1 सितंबर, 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के बाद सांप्रदायिकता पर ब्रिटिश सरकार की निर्भरता और बढ़ गई। 1939 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने सामूहिक रूप से त्यागपत्र दे दिया और माँग की कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के बाद पूर्ण स्वाधीनता तथा सरकार में प्रभावशाली भूमिका देने की तत्काल घोषणा करे। मुस्लिम लीग ने कांग्रेसी मंत्रियों के इस्तीफे के दिन को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाया और लंदन के प्रति अपनी वफादारी दोहराई। ब्रिटिश सरकार ने भी संकट के समय वफादारी दिखाने के कारण जिन्ना को हरसंभव रियायतें देने का वादा किया। सरकार ने मुस्लिम लीग को मुसलमानों का एकमात्र प्रवक्ता मान लिया और यह आश्वासन दिया कि किसी भी समझौते तक पहुंचने से पहले सभी समुदायों की राय अवश्य ली जायेगी। ब्रिटिश सरकार के शह पर जिन्ना कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमनों को भड़काने लगे

और मुस्लिमों का घ्रुवीकरण करने लगे। कांग्रेस के विरूद्ध जिन्ना ने 1940 में अलीगढ़ में छात्रों से कहा "मिस्टर गांधी चाहते हैं कि हिंदूराज के तहत मुसलमानों को कुचल डालें और उन्हें प्रजा बनाकर रखें।"

सिंध के एक प्रमुख लीगी नेता एम.एच. गजदर ने मार्च, 1941 में कराची में लीग की एक सभा में कहा, 'अगर हिंदू कायदे से पेश नही आये, तो उन्हें उसी तरह खत्म करना होगा, जैसे जर्मनी में यहूदियों को।' इसके बाद जेड.ए. सुलेरी, एफ.एम. दुर्रानी एवं फैज-उल-हक जैसे मुस्लिम संप्रदायवादियों ने कांग्रेस के विरुद्ध व्यापक आंदोलन आरंभ कर दिया। मुस्लिम संप्रदायवादी मौलाना आजाद जैसे कांग्रेसी मुसलमान नेताओं को 'कांग्रेस के नुमाइशी बच्चे' और 'इस्लाम के गद्दार' कहने लगे।

अलग राष्ट्र की माँग (Demand for a Separate Nation)

ब्रिटिश सहयोग से उत्साहित मुस्लिम लीग ने 26 मार्च 1940 को अपने लाहौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर एक अलग राष्ट्र की माँग को सैद्धांतिक मंजूरी प्रदान की। लाहौर प्रस्ताव में विभाजन या पाकिस्तान का उल्लेख नही था, केवल अनिश्चित भविष्य में मुस्लिम बहुल प्रांतों से स्वतंत्र राज्यों के गठन की बात थी। दूसरे शब्दों में, लाहौर प्रस्ताव भारतीय मुसलमानों के एक अल्पसंख्यक से एक राष्ट्र में रूपांतरण का सूचक था ताकि भारत के लिए किसी भी भावी संविधानिक व्यवस्था पर उनकी भागीदारी और सहमति के बिना बातचीत न की जा सके।

जिन्ना ने हिंदुओं और मुस्लिमों को दो अलग-अलग राष्ट्र मानते हुए उनके लिए अलग-अलग राजनीतिक आत्मनिर्णय के आवश्यकता पर बल दिया। जिन्ना ने मुस्लिम लीग की कराची बैठक में चौधरी रहमतअली द्वारा प्रस्तुत 'पाकिस्तान' की अवधारणा को स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश सरकार की अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की नीति से मुस्लिम लीग के द्वि-राष्ट्र के सिद्धांत को मौन स्वीकृति मिल गई। इसके बाद जिन्ना ने अगस्त प्रस्ताव, क्रिप्स मिशन, शिमला सम्मेलन तथा मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल (कैबिनेट मिशन) के प्रस्तावों में पृथक् पाकिस्तान की माँग को पूर्णरूपेण स्वीकार किये जाने की सम्भावनाएं तलाश की। जिन्ना और मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त, 1946 दिन प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस (Direct Action Day) के दौरान बड़े पैमाने पर दंगे करवा कर भय का वातावरण बनाया।

अंततः विवश होकर भारतीय एकात्मकता का दावा करनेवाली कांग्रेस को मुस्लिम लीग की पृथक् पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करना पड़ा। अंततः 3 जून की माउंटबेटन योजना के आधार पर 14 अगस्त, 1947 को मुस्लिम बहुल प्रांतों- पंजाब, सिंध, ब्लूचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत तथा बंगाल को मिलाकर एक नये राष्ट्र पाकिस्तान का गठन हो गया।

राष्ट्रीय आंदोलन की विफलता (Failure of National Movement)

यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन ने सांप्रदायिक शक्तियों का सदैव दृढ़ता से विरोध किया, किंतु वह सांप्रदायिक चुनौतियों का सामना करने में पूरी तरह सफल नही हो सका और अंत में देश को विभाजन का दंश झेलना पड़ा। कहा जाता है कि राष्ट्रवादी नेताओं ने सांप्रदायिक नेताओं से बातचीत करने और उन्हें साथ लेने के पर्याप्त प्रयास नही किये।

सच तो यह है कि राष्ट्रवादी नेताओं ने सांप्रदायिक नेताओं से बातचीत पर जरूरत से ज्यादा भरोसा किया। किंतु राष्ट्रवादी नेताओं यह नही पता था कि संप्रदायवाद को संतुष्ट करना संभव नही है। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रवादी नेतृत्व ने संप्रदायवाद को जितना संतुष्ट करने का प्रयास किया गया, उसमें उतनी ही गरमाहट आती गई। दरअसल सांप्रदायिकता को संतुष्ट करने की जरूरत थी ही नही, बल्कि उसके खिलाफ एक कठोर राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष चलाने की आवश्यकता थी और राष्ट्रवादी नेतृत्व ऐसा करने में असफल रहा।